

उत्तर औपनिवेशिक दौर में भारतीय जन

अजय वर्मा

मेरी दुनिया मर गयी है, मैं उसका मर्सिया लिख रही हूँ।

अरुंधती राय

पिछली सदी सपनों को साकार करने के लिए संघर्ष की सदी थी, नयी सदी सपनों को बचाने के लिए संघर्ष की सदी है। आजादी के बाद जो नेशन स्टेट बना, उसकी अवधारणा उसी पश्चिम से ली गयी थी जिसकी औपनिवेशिक दास्तां को भारत ने दो सौ वर्षों तक झेला था और जो पश्चिम की उसी आधुनिकता की उपज थी जिस आधुनिकता की उपज उपनिवेशवाद और पूंजीवाद था। जाहिर है कि यह एक भ्रम था कि भारत आधुनिक उदारवादी जनतंत्र बन गया है। यह भ्रम तब तक बना रहा जब तक हमारा देश सीधे पूंजी के भूमंडलीकरण में शामिल नहीं हो गया और मार्क्स ने 'ग्रुंड्रिस' में पूंजी के इस चरम रूप की भयावहता की चर्चा की थी। बहरहाल यह भ्रम इसलिए बना रहा कि भारतीय राज्य लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रति वफादार नहीं तो कम से कम जिम्मेदार बने रहने का अभिनय करने के लिए विवश था पर पूंजी के भूमंडलीकरण के मार्ग के अवरोध समाप्त हो गये, समाजवादी निजामों का पतन हुआ और पूंजीवाद एकछत्र रूप में अपने विकास के चरम पर पहुंच गया तो भारतीय राज्य को इस अभिनय की जरूरत नहीं रह गयी, वह सीधे तौर पर विश्वग्राम के आकाओं के प्रति जिम्मेदार हो गया और जिसे हम जन कहते हैं उसके प्रति वह पूरी तरह अपने वास्तविक अनुदार रूप में सामने आ गया।

ट्रांसफर ऑफ पावर के दस्तावेज बतलाते हैं कि इसके लिए आजादी के समय ही गुंजाइश छोड़ दी गयी। बद्री नारायण जी के तद्भव में प्रकाशित लेख 'फटी हुई जीभ की दास्तान' की यही पृष्ठभूमि है। यह लेख आज के भारतीय जीवन के कई विमर्शों को एक साथ उठाता है। आम तौर पर समाजशास्त्रीय या साहित्यिक विमर्शों को हम सिद्धांतों की रोशनी में देखने के आदी रहे हैं, उसके विपरीत यह लेख हमें जीवन के माध्यम से विमर्शों के बारे में राय बनाने की पद्धति से रूबरू कराता है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, विखंडन, पूरबवाद आदि सैद्धांतिक बहसों की पर्याप्त जुगाली कर ली गयी है, यह मान कर कि बौद्धिक विमर्श और जीवन स्थितियों के बीच एक फांक होती है। मगर बद्री नारायण जी एक पीपुल्स इंटेलेक्चुअल की हैसियत से सीधे उन वैचारिक सूत्रों को पकड़ने की कोशिश करते हैं जो आज के भारतीय मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्नों से जुड़े हैं और निश्चय ही अलग अलग दिखने वाले ये सूत्र एक जगह आकर आपस में जुड़ते हैं, इनके बीच एक अनिवार्य सम्बंध बनता है।

फटी हुई जीभ का रूपक औपनिवेशिक भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के अंतर्विरोधों के साथ साथ एक स्वतंत्र और लोक कल्याणकारी राज्य के रूप में निर्मित भारत के विरोधाभासों को भी बहस के दायरे में लाता है। यूरोप में आधुनिकता का उदय चर्च की सत्ता के विरुद्ध हुआ था और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, इस आधुनिकता की उपज उपनिवेशवाद है। यूरोप में औद्योगिक

क्रांति उपनिवेशों में लूट खसोट के कारण सम्भव हुई। यह एक ऐतिहासिक छल है कि आधुनिकता का सम्बंध औद्योगिकरण से है और इसके पीछे पश्चिम की उस पुरानी सोच को वैधता देने की मंशा है कि भारत में आधुनिक बनने की क्षमता नहीं थी। इसलिए यह विचारणीय है कि भारत में आधुनिकता का उदय किस रूप में और किस प्रकार हुआ और आज अस्तित्व के जिन प्रश्नों से हम रूबरू हैं, उनका इससे क्या सम्बंध है। यहां जिस आधुनिकता का उदय हुआ वह ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज नहीं थी, अंग्रेजों की देखरेख में बनी थी। उस समय का भारतीय मध्य वर्ग अंग्रेजों के प्रति आलोचनात्मक हुए बगैर जागरण और राष्ट्रवाद की सैद्धांतिकी गढ़ना चाहता था इसलिए वर्तमान की चुनौतियों से टकराने के लिए उसने अतीत की ओर देखना शुरू किया। यूरोपीय इंडोलॉजिस्ट (प्राच्यविदों) ने इसमें उनकी भरपूर सहायता की, लिहाजा एक हिन्दू आध्यात्मिक भारत की छवि बनी जिसके लिए अतीत की उन छवियों को महिमामंडित किया गया जो मुसलमानों से लड़े थे। यहीं भारतीय मानस में दरार उत्पन्न होती है। वास्तव में यह दरार पूरी दुनिया में चल रहे पूंजीवादी देशों के अभियान की देन थी। एजाज अहमद का कहना है कि पूरी बीसवीं सदी पूंजीवादी और गैर पूंजीवादी देशों के बीच संघर्ष की सदी है और उपनिवेशवाद तथा आधुनिकता का दौर पूंजी के भूमंडलीकरण का प्रारम्भिक चरण था। इसका दूसरा चरण शुरू हुआ दूसरे विश्वयुद्ध के बाद और तब आधुनिकता को नाकाफी बता कर उत्तर आधुनिकता को विमर्श के केन्द्र में लाया गया। आज उत्तर औपनिवेशिकता की बातें हो रही हैं, यह पूंजी के भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के चरम पर पहुंच जाने का दौर है। इस चरम दौर में ज्ञान को किस प्रकार बाजार के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है इसके लिए अमेरिका के प्रतिष्ठित येल विश्वविद्यालय में सेण्टर फॉर स्टडीज ऑफ ग्लोबलाइजेशन का बाकायदा विभाग खोल दिया गया।

भारत आज भूमंडलीकरण और बाजार की जिस चपेट में है, उसकी प्रक्रिया उसी समय शुरू हो गयी थी जब यहां यूरोपीय उपनिवेशवादियों के चरण पड़े थे। जहां जहां इनके चरण पड़े वहां वहां आबादी का बड़ा हिस्सा अपनी जमीन से विस्थापित हो गया, कई नस्लें खत्म हो गयीं। निस्संदेह लैटिन अमरीकी देशों में जो हुआ उस हद तक कुकृत्य भारत में नहीं हुए और सम्भवतः इसी कारण कुछ नवइतिहासविद् भारत में अंग्रेजों की भूमिका उतनी बुरी नहीं मानते। दीपेश चक्रवर्ती की किताब के संदर्भ में उपन्यासकार अमिताभ घोष के साथ जो उनका सायबर पत्राचार हुआ है उसमें ये बातें आयी हैं कि कम या ज्यादा अत्याचार की तुलना करके यह निष्कर्ष निकालना कि अंग्रेजों ने भारत पर मेहरबानी की, कहां तक उचित है। कहने का अर्थ यह है कि आज भी हमारे देश के एक विशिष्ट बौद्धिक वर्ग में उपनिवेशवाद को लेकर असमंजस की स्थिति है। यह वर्ग घटनाओं को तुलनात्मक रूप में देख कर विवेचना करता है, समग्रता में नहीं। समग्रता में देखें तो यह बात एकदम पक्के तौर पर कही जा सकती है कि भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों को उजाड़ कर ही ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति सफल हुई। मगर उपनिवेशवाद के चरित्र को इस दृष्टि से न उस समय देखा गया, न आज भूमंडलीकरण के रूप में फैल रहे नये साम्राज्यवाद को देखा जा रहा है। भारतीय समाज का विशिष्ट वर्ग जो आबादी का लगभग एक चौथाई है पुरजोर ढंग से भूमंडलीकरण की अनिवार्यता बतलाता है। तर्कों एवं प्रमाणों के नाम पर उसके सामने वास्तविक जीवन के ऊपर हाइपर रीयलिटी की आभा है। इस हाइपर रीयलिटी में बाजार द्वारा थोपी गयी जीवन पद्धति, लोकतंत्र का लोकलुभावन रूप, अनियंत्रित तकनीकी विकास, संस्कृति के नाम पर सोच में घनघोर रूढ़िग्रस्तता और जीवन शैली में अमेरिकी नकल मुख्य रूप से नवधनिकों की लेग्स पार्टियां शामिल हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में एक नया अपर मध्य वर्ग पैदा हुआ है, उसके ऊपर नवधनिक वर्ग है जिसने पूंजी की दौड़ में हैरतअगेज छलांग लगायी है। विकास वास्तव में इन्हीं का हुआ है, इस एक चौथाई आबादी को लेकर भारत वैश्विक मंडी से जुड़ गया। तीसरी दुनिया के अधिकतर देश एक बड़ी साम्राज्यीय पूंजी से जुड़ गये हैं और यह साम्राज्यीय पूंजी ही पॉलिटिकल मसलों को नियंत्रित संचालित

करती है। इस प्रकार पूंजी की शक्ति राजनीति की शक्ति पर हावी हो गयी और पूंजी के शक्ति केन्द्र World Bank, IMF हैं, यानी प्रकारांतर से अमेरिका। इधर हमारे देश के कर्णधारों ने भारत को वैश्विक मंडी से जोड़ने के लिए नदियों तक को लीज पर उठा दिया है। रजनी कोठारी कहते हैं कि आर्थिक उदारिकरण दुनिया में जहां कहीं भी हुआ हो, उसका लाभ अमेरिका ने ही उठाया है, सारा रणनीतिक चिन्तन वही तय करता है चाहे पूर्व युगोस्लाविया का मामला हो या रूसी गणराज्यों का, इजरायल फिलिस्तीन विवाद हो या भारत पाकिस्तान का मामला अथवा चीन की विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएं, इसी को कोठारी 'युद्धरत लोकतंत्र' की संज्ञा देते हैं और इसी संदर्भ में नोम चोम्स्की यू.एस. सेना मैनुअल के आधार पर अमेरिका को सबसे बड़ा आतंकी देश कहते हैं।

यह बेहद लाजिमी सवाल है कि भारत जैसे देश में जो तीन चौथाई आबादी विकास में पीछे रह गयी इसका क्या हथ्र होगा? यथार्थ यह है कि गांव के गांव खाली हो रहे हैं, किसान और कारीगर दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता में जाकर दिहाड़ी मजदूर बन गये हैं। इस प्रकार मेट्रोपोल के इर्द गिर्द असली भारत स्लम के रूप में तेजी से उभर रहा है। बद्री नारायण जी जिस सवर्ण मानसिकता की बात इस लेख में उठाते हैं, वह व्यवहार में इस आंधी में उड़ गयी है। भारत का विकास इसी तीन चौथाई आबादी को उजाड़ कर सम्भव हो रहा है। बांध परियोजनाओं से करोड़ों लोग उजड़ गये। राजसत्ता इसी प्रकार जनता से अलग हुई है। भारत में आधुनिकता का प्रोजेक्ट पूरा ही नहीं हुआ क्योंकि यह आधुनिकता विरोधाभास का शिकार थी। अंग्रेजों की प्रतिक्रिया में आधुनिक दिखने के लिए लोगों ने रूढ़ियों से मुक्ति के लिए अतीत के उन्हीं मूल्यों को पुनर्जीवित किया जो रूढ़ियों के जनक थे। जातियों को समाप्त करने के लिए पुनर्जागरण के नेताओं ने आर्य नस्ल की श्रेष्ठता पर जोर दिया क्योंकि वे यूरोपीय जातियों के श्रेष्ठता बोध से आक्रांत थे। इसी दोहरी मानसिकता के कारण आधुनिकता के प्रोजेक्ट में फांक उत्पन्न हुई। यह अकारण नहीं कि अंग्रेज यहां आधुनिकता के वाहक बन गये। आधुनिकता अंततः एक अस्मितावादी देसीवाद में तब्दील हो गयी। जाहिर है कि यह दोष आधुनिकता को लागू कराने की पद्धति का था, आधुनिकता का नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिकता की देन सिर्फ पूंजीवाद या उपनिवेशवाद नहीं है, मार्क्सवाद भी है और पूंजीवाद के इस चरम दौर में उसकी प्रासंगिकता खत्म नहीं हुई है बल्कि बढ़ गयी है।

आधुनिकता की आलोचना इसलिए भी की जाती है कि उसमें छोटी अस्मिताओं का विलय हो गया है। इसीलिए उत्तर आधुनिकता के समर्थक दावा करते हैं कि उत्तर आधुनिकता में छोटी अस्मिताओं के अस्तित्व की रक्षा की गुंजाइश है। इसीलिए वे अस्मिताओं की मुक्ति का नारा देते हैं। यह राष्ट्रीय अस्मिता को विखंडित करके तीसरी दुनिया को पूंजीवादी देशों के झंडे तले लाने की कोशिश है। आधुनिकता ने छोटी अस्मिताओं का राष्ट्रीय अस्मिता में विलय नहीं किया बल्कि ये अस्मिताएं अपनी विशिष्टताओं के साथ राष्ट्र के रूप में एकजुट हुईं और भूमंडलीकरण के पुरोधा इसी को विखंडित करना चाहते हैं। अमेरिकी फोर्ड फाउंडेशन ने भूमंडलीकरण के दौर में 'एथनिसिटी' शब्द ईजाद किया है जो कम्युनिटी के विरोध में है और यह एथनिसिटी निश्चित रूप से आधुनिकता विरोधी है क्योंकि यह एक राष्ट्रीय अस्मिता के टांचे से छोटी छोटी अस्मिताओं को आजाद होने की प्रेरणा देती है। यह अनायास नहीं है कि भूमंडलीकरण के दौर में धार्मिक पुनरुत्थान तीव्र हुआ और इसी के साथ साथ क्षेत्रीय तथा नस्ली अस्मिताओं का उभार भी। गुजरात में अकेले नरेन्द्र मोदी ने तीन प्रकार की अस्मिताओं का प्रयोग किया— पहले चुनाव में उन्होंने हिन्दू अस्मिता का नारा दिया, दूसरे चुनाव में गुजराती अस्मिता का और अभी पिछले लोकसभा चुनाव में उन्होंने दबे स्वर में ही सही पिछड़े होने को भी एक अस्मिता के रूप में प्रचारित करने की कोशिश की क्योंकि वे अच्छी तरह समझते हैं कि पहली दोनों प्रकार की अस्मिताओं का दामन थाम कर दिल्ली की गद्दी नहीं पायी जा सकती है। सबसे गम्भीर बात है कि भारतीयता को भी एक अस्मिता का रूप देने का प्रयास भूमंडलीकरण के दौर में ही सामने आया और

इसी का विकृत रूप 'जय हो' का गान है जिस पर भूखी नंगी जनता झूम रही है— भारतीयता के झूठे नशे में, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परमाणु विस्फोट के बाद झूठे शौर्य के नशे में झूम रही थी जब बालठाकरे ने घोषणा कर दी थी कि अब हम हिजड़े नहीं रहे।

सवाल उठता है कि भारतीयता को अस्मिता का रूप कैसे दिया जायगा जबकि यह शब्द एक मिले जुले बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय देश के लिए है। इसे हम एक बोध तक ही सीमित रख सकते हैं, मगर नब्बे के दौर में इसे अस्मिता का रूप देने के लिए इसमें हिन्दू अध्यात्मवाद का कन्टेण्ट डाला गया (नवजागरण के दिनों में स्वामी दयानंद ने यही कन्टेण्ट डाला था) और इसी का परिणाम है कि भूमंडलीकरण के दौर में जब अस्मिताओं का वर्चस्व बढ़ा तब भारतीयता की परिभाषा गोलवलकर के हिसाब से तय होने लगी। उत्तर आधुनिकता का भूमंडलीकरण से गहरा रिश्ता है इसलिए राष्ट्रीय संरचना को निष्क्रिय करके एक वैश्विक राष्ट्रीयता की बात पूंजी के उत्तर आधुनिक विमर्श में अनिवार्यतः निहित है।

सम्भवतः भारतीयता को एक अस्मिता मानने के कारण ही भारतीय अंग्रेजी लेखन को एक ही झटके में बंदी नारायण जी कटघरे में ला देते हैं। इसीलिए वे अरुंधती राय, झुम्पा लाहिड़ी और सलमान रुश्दी को एक ही पंक्ति में खड़ा कर देते हैं। झुम्पा लाहिड़ी या सलमान रुश्दी के बारे में प्रश्न इस बात को लेकर होने चाहिए कि वे तीसरी दुनिया के प्रति पश्चिम के ऐतिहासिक हिकारत भाव से क्यों प्रभावित हैं और किस प्रकार उत्तर औपनिवेशिक विमर्श (जो उपनिवेशों के उत्पीड़न को गल्प मानता है) को पल्लवित करते हैं। सिर्फ अंग्रेजी भाषा में लिखने से सारे लेखक भारतीयता के विरोधी नहीं हो सकते हैं, यह देसीवाद का अस्मितावादी विमर्श है और यह भी भूमंडलीकरण का ही एक प्रोजेक्ट है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि देसीवाद की बात करने वाले अंततः पश्चिमी विद्वानों की ही भाषा बोलने लगते हैं, मसलन गणेश एन. देवी नेटिविज्म पर इसी भाषा में बात करते हैं। उनका उद्धरण 'तद्भव' के इसी अंक में प्रकाशित राजकुमार के लेख में देखा जा सकता है।

साहित्यिक जनतंत्र में मेट्रोपोल की भूमिका का खुले रूप में बंदी नारायण जी ने विश्लेषण किया है। इसमें यह देखना भी आवश्यक है कि जिसे वे मेट्रोपोल बनाम सीमांत का संघर्ष कहते हैं वह साहित्य की विचारों से मुक्ति बनाम सापेक्ष स्वायत्तता की बहस थी जो आज भी प्रासंगिक है। सत्तर अस्सी के वर्षों में साहित्य में जिस प्रकार रूमानी क्रांतिकारिता का विस्फोट हुआ उससे सीमांत अपने ठस रूप में ही ज्यादा सामने आया, वरना क्या कारण था कि उत्तेजक क्रांतिकारिता के बावजूद वर्गीय चेतना लगातार कुंद होती गयी? वास्तव में जो लेखक दिल्ली में रह कर या दिल्ली के बाहर रह कर दिल्ली को चिढ़ाते रहे उनके लेखन में सीमांत न तो रूमानी रूप में था न स्थानीयता की जड़ता से ग्रस्त था। इन्होंने मेट्रोपोल के वर्चस्व के साथ साथ सीमांत या स्थानीयता के दायरे को भी तोड़ा। संक्षेप में इस मुद्दे को मेट्रोपोल बनाम सीमांत के बहस के बीच लाने से बहुत सारी जरूरी बातें छूट जाती हैं। इस पर इतना ही।